

November 2019

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

नवम्बर २०१९



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन नवम्बर २०१९

विषय-सूची

धरती पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति	श्रीअरविन्द	३
एक बालक को पत्र	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६ से	७
पथ	श्रीअरविन्द	१६
१७ अगस्त १९५५ के वार्तालाप का एक अंश	'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७ से	१८
कर्मयोग	श्रीअरविन्द	२१
१९६९ के तीन वार्तालाप	'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११ से	२२
श्रीअरविन्द के उत्तर (७४)		२६

धरती पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति

आश्रम की त्रैमासिक पत्रिका “ब्यूलेटिन देद्युकासियों फ़िज़ीक”—“Bulletin d’Education Physique”—(शारीरिक शिक्षण-पत्रिका) के इस प्रथम अंक के प्रकाशन के अवसर पर इस पत्रिका और इस संस्था—जे.एस.ए.एस.ए.—Jeunesse Sportive de l’Ashram de Sri Aurobindo —ज़नेस स्पोर्टिव द लाश्रम द श्रीअरविन्द—(श्रीअरविन्द-आश्रम-युवक-खिलाड़ी-दल) को मैं अपना आशीर्वाद दे रहा हूँ। और इसके साथ ही मैं यहाँ थोड़ा-सा यह भी विचार करना चाहता हूँ कि ऐसी संस्थाओं को स्थापित करने का गभीर कारण क्या है और विशेष रूप से इस बात की चर्चा करना चाहता हूँ कि यदि देश-भर में ऐसी संस्थाओं का तथा यहाँ आश्रम में जो खेल खेले जा रहे हैं या शारीरिक व्यायाम किये जा रहे हैं, उन सबका व्यापक रूप से प्रचार किया जाये तो राष्ट्र की दृष्टि से उन सबकी क्या आवश्यकता और उपयोगिता है। अपने अत्यन्त बाह्य रूप में ये सब महज़ खेल-कूद और मनोरञ्जन की चीज़ें मालूम होती हैं जिन्हें लोग या तो मनबहलाव के लिए अपनाते हैं या शरीर की शक्ति और कार्य करने की अपनी स्वाभाविक सहज वृत्ति को खर्च कर डालने के क्षेत्र के रूप में अथवा शरीर के स्वास्थ्य और सामर्थ्य को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के साधन के रूप में ग्रहण करते हैं। परन्तु ये सब चीज़ें इससे बहुत अधिक हैं और हो सकती हैं : ये उन अभ्यासों, क्षमताओं और गुणों को विकसित करने के क्षेत्र भी हैं जो किसी भी जाति के लिए, युद्ध या शान्ति के काल में, उसकी राजनीतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों के लिए, और निस्सन्देह सामूहिक मानव-प्रयास के प्रायः अधिकांश क्षेत्रों के लिए भी, अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी होते हैं। इस बात को हम इस विषय का राष्ट्रीय पहलू मान सकते हैं और यहाँ मैं बस इसी पहलू को विशेष महत्त्व देना चाहता हूँ।

आज हमारे युग में इन खेल-कूदों और शारीरिक व्यायामों ने जिस तरह अपना विशेष स्थान बना लिया है और सर्वसाधारण के मन में एक प्रकार की दिलचस्पी उत्पन्न कर दी है, उस तरह की चीज़ प्राचीन काल में केवल यूनान-जैसे देशों में देखी जाती थी। उन दिनों यूनान में मनुष्य के सभी प्रकार के क्रिया-कलाप एकसमान विकसित थे और शारीरिक क्षेत्र में व्यायाम, रथ-दौड़ तथा अन्याय खेल-तमाशों को ठीक वही महत्त्व प्राप्त था जो महत्त्व मानसिक क्षेत्र में कला, काव्य और नाटक आदि को प्राप्त था। इन सभी चीज़ों को नगर-राज्य के सरकारी कर्मचारी विशेष रूप से प्रोत्साहित करते और स्वयं उनमें उपस्थित रहते। यूनान देश ने ही ‘ओलिम्पियाड’ नाम की प्रसिद्ध संस्था स्थापित की थी और आज एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में जो ‘ओलिम्पियाड’ की पुनः स्थापना हुई है, वह उसी प्राचीन भावना के पुनरुज्जीवित होने का एक अर्थपूर्ण चिह्न है। खेलों के प्रति इस तरह की दिलचस्पी कुछ हद तक हमारे देश में भी फैली है और भारत ने भी ‘ओलिम्पियाड’-जैसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में स्थान ग्रहण करना आरम्भ कर दिया है। स्वतन्त्र भारत में जो आज नयी सरकार स्थापित हुई है, उसने भी

राष्ट्र के जीवन को सब दिशाओं में विकसित करने में दिलचस्पी लेना आरम्भ कर दिया है और आशा है कि जिन सब कार्यों को लोग पहले व्यक्तिगत रूप से ही किया करते थे, उनमें भी वह सक्रिय रूप से भाग लेने लगेगी और उनका भी सञ्चालन करना आरम्भ कर देगी। उदाहरणार्थ, आज नयी सरकार राष्ट्र के अन्दर स्वास्थ्य और शारीरिक क्षमता स्थापित करने और उसकी रक्षा करने के प्रश्न को अपने हाथ में ले रही है और ऐसा प्रचार-कार्य आरम्भ कर रही है जिससे साधारण लोग इसकी महत्ता को समझने लगे। अगर खेल-कूदों, व्यायाम-समितियों और इस तरह की सभी क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया जाये तो उससे सरकार के इस प्रयास में अमूल्य सहायता पहुँच सकती है। अगर सारे देश के बालकों, युवकों तथा वयस्क मनुष्यों में ऐसे व्यायामों में भाग लेने की आदत उत्पन्न की जाये तो उससे एक स्वस्थ और शक्तिशाली जाति की सृष्टि करने में बहुत अधिक सहायता मिल सकती है।

परन्तु शरीर के स्वास्थ्य, सामर्थ्य और योग्यता को संस्थापित करना चाहे जितना भी आवश्यक क्यों न हो, उससे कहीं अधिक महत्त्व की बात है नियमानुवर्तिता, नैतिकता तथा निर्दोष और सबल चरित्र का विकास करना और इस कार्य में इस प्रकार की क्रियाएँ सहायता पहुँचा सकती हैं। ऐसे बहुत-से खेल हैं जो इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अत्यन्त मूल्यवान् हैं, क्योंकि वे शौर्य, वीर्य, स्फूर्ति, चातुरी, दृढ़ संकल्प, शीघ्र निर्णय और कार्य करने की शक्ति, विशेष परिस्थिति में अपने कर्तव्य को समझ जाने और उसे तुरत पूरा करने की शक्ति इत्यादि गुणों को उत्पन्न करने में सहायता करते हैं, यहाँ तक कि उनका उत्पन्न होना अनिवार्य बना देते हैं। खेलों के द्वारा हमारे अन्दर जो एक अत्यन्त मूल्यवान् विकास होता है वह है तात्त्विक और सहजबोधोद्भात्मक शारीर चेतना का जागरण, जो चेतना मानसिक विचार का कोई संकेत पाये बिना भी जो कुछ आवश्यक है उसे देख और कर सकती है और जो शरीर में वर्तमान ठीक वही शक्ति है जो मन के अन्दर द्रुत अन्तर्दृष्टि की और संकल्प के अन्दर अपने-आप शीघ्र निर्णय कर डालने की शक्ति है। इसके साथ-साथ विधिवत् गति (मार्चिंग) या कवायद आदि-जैसे व्यायामों के फलस्वरूप शरीर में सामञ्जस्यपूर्ण और समुचित गति करने की क्षमता उत्पन्न होती है, विशेषकर सम्मिलित कार्यों के अन्दर संयम के साथ शारीरिक प्रयत्न करने और शक्ति के अपव्यय से बचने की योग्यता उत्पन्न होती है और अभ्यासरहित व्यक्ति के शरीर में जो ढीली-ढाली और छितरी हुई, सामञ्जस्यहीन या कुव्यवस्थित या हानिकारक गतियाँ होती हैं, उनसे मनुष्य बच जाता है।

इन खेल-कूदों से दूसरा अमूल्य लाभ यह होता है कि हमारे अन्दर उस मनोभाव की वृद्धि होती है जिसे हम ज़िन्दादिली या खिलाड़ी-मिज़ाज कहते हैं। इसके अन्दर प्रसन्नता, सहनशीलता, सबकी सुविधा-असुविधा का विचार रखना, प्रतियोगिताओं में एक साथ भाग लेने वाले और प्रतिस्पर्द्धा रखने वाले अपने साथियों के प्रति समुचित और मैत्री का भाव रखना, आत्मसंयम, खेल के नियमों का सावधानी के साथ पालन करना, ईमानदारी के साथ खेलना और अनुचित उपायों का उपयोग न करना, उदास हुए बिना और अपने सफल प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति क्रोध या

कुभाव रखे बिना, हार या जीत को समान भाव से ग्रहण करना, खेल में नियुक्त जज, पञ्च या 'रेफ़री' के निर्णय को सच्चाई के साथ स्वीकार करना आदि गुण शामिल हैं। ये सब गुण केवल खेल के लिए ही नहीं, बल्कि साधारण जीवन के लिए भी उपयोगी हैं और इनके विकास में जो सहायता खेल-कूद के द्वारा प्राप्त होती है वह प्रत्यक्ष और बहुमूल्य होती है। यदि ये गुण केवल व्यक्ति के जीवन में ही नहीं, बल्कि राष्ट्र के जीवन में और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी, जहाँ आजकल इनकी विरोधी प्रवृत्तियाँ ही अत्यन्त प्रबल हो गयी हैं, अधिक व्यापक रूप में विकसित किये जायें तो हमारे इस दुःखपूर्ण जगत् का जीवन बहुत कुछ शान्तिपूर्ण बन जायेगा और जिस सामञ्जस्य और मित्रता की हमें आज अत्यन्त आवश्यकता है उसके स्थापित होने के लिए एक महत्तर सम्भावना उद्घाटित हो जायेगी।

इन गुणों से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं नियमपालन का अभ्यास, आज्ञाकारिता, समस्वरता, और दलबद्ध होकर कार्य करने का अभ्यास, जिनके बिना कुछ खेल खेले ही नहीं जा सकते। क्योंकि, उनके बिना सफलता या तो अनिश्चित होती है या असम्भव हो जाती है। जीवन में, विशेषकर राष्ट्रीय जीवन में ऐसे अनगिनत कार्य होते हैं जिनमें नेतृत्व करना और उस नेतृत्व की आज्ञा मान कर चलना सामूहिक कार्य में सफलता प्राप्त करने, युद्ध में विजय पाने या किसी उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए आवश्यक है। सब प्रकार के सामूहिक कार्य या कठिन उद्देश्य की सिद्धि के लिए नेता या सेनापति का स्थान, उसकी नेतृत्व करने की शक्ति और क्षमता, कार्य-परिचालन करने की उसकी योग्यता, उसके नेतृत्व पर उसके अनुयायियों का विश्वास और आज्ञापालन की तत्परता आदि बातें अत्यन्त आवश्यक हैं; परन्तु बहुत थोड़े-से लोग ही इन चीज़ों को बिना सीखे, दूसरों के साथ एकमन या एकशरीर होकर आज्ञा मानने और कार्य करने की शिक्षा पाये बिना, अपने-आप विकसित कर सकते हैं। इस तरह की कठोर शिक्षा, नियमानुवर्तिता और आज्ञाकारिता का यह अभ्यास व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है; बल्कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समुचित उपयोग के लिए यह बहुधा आवश्यक होता है, ठीक उसी तरह जिस तरह कि सुव्यवस्था स्वतन्त्रता की विरोधिनी नहीं होती, बल्कि स्वतन्त्रता के समुचित उपयोग के लिए, और यहाँ तक कि उसे सुरक्षित और सञ्जीवित बनाये रखने के लिए भी वह आवश्यक होती है। सभी प्रकार के सामूहिक कार्यों के लिए यह नियम अनिवार्य है : सुरसंगति स्थापित करना आवश्यक है और अगर किसी वाद्य-मण्डली (ऑर्केस्ट्रा) के सभी वादक अपने-अपने बाजों को अपनी-अपनी मौज के अनुसार बजावें और अपने परिचालक की सूचनाओं का अनुसरण करना अस्वीकार करें तो वह मण्डली कभी कृतकार्य नहीं हो सकती। आध्यात्मिक विषयों में भी ठीक यही नियम लागू होता है; अगर कोई साधक अपने गुरु के पथ-प्रदर्शन की उपेक्षा करे और अपनी कच्ची, असंयत प्रेरणाओं का अनुगमन करना पसन्द करे तो वह मुश्किल से उन पदस्खलनों या सर्वनाशों तक से बच सकता है जो बहुधा आध्यात्मिक सिद्धि के मार्ग में पग-पग पर हमारे सामने उपस्थित होते हैं।

अब खेल-कूदों से प्राप्त होने वाली शिक्षा के अन्यान्य लाभों को यहाँ और गिनाना और

राष्ट्रीय जीवन के लिए उनकी उपयोगिता पर विचार करना मैं आवश्यक नहीं समझता; जो कुछ मैंने कहा है वह पर्याप्त है। बहरहाल, हमारी पाठशाला-जैसी पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में अब खेल-कूदों को स्वीकार कर लिया गया है और उनका स्थान अनिवार्य हो गया है; क्योंकि मन की उच्चतम और पूर्णतम शिक्षा भी शारीरिक शिक्षा के बिना पर्याप्त नहीं होती। जहाँ ऊपर बतलाये हुए गुण नहीं हैं अथवा अपूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं, वहाँ सबल व्यक्तिगत संकल्प के द्वारा अथवा सामूहिक राष्ट्रीय संकल्प के द्वारा उन्हें उत्पन्न किया जा सकता है, पर उनके विकास में जो सहायता खेल-कूदों से प्राप्त होती है वह प्रत्यक्ष होती है और उसकी किसी भी तरह उपेक्षा नहीं की जा सकती। यही इस बात का पर्याप्त कारण कहा जा सकता है कि हमारे आश्रम में उनकी ओर इतना ध्यान क्यों दिया जाता है, यद्यपि अन्य कारण भी हैं और उनकी चर्चा करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ मेरा मतलब बस इतना ही बतलाना है कि जिन-जिन गुणों को ये खेल-कूद उत्पन्न या जाग्रत् करते हैं उनका महत्त्व और प्रयोजन हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए क्या है। जिस राष्ट्र में ये सब गुण अधिक-से-अधिक मात्रा में होंगे वही विजय, सफलता और गौरव प्राप्त करने में, बल्कि भविष्य में मनुष्यजाति में हम जिस एकत्व और अधिक सुसमञ्जस विश्व-व्यवस्था के स्थापित होने की आशा करते हैं, उसके लिए कार्य करने में भी सबसे अधिक समर्थ हो सकेगा।

३० दिसम्बर १९४८

—श्रीअरविन्द

एक बालक को पत्र

(ये पत्र आश्रम में प्रवेश पाने वाले पहले बालकों में से एक के नाम हैं। यह दस वर्ष की उम्र में आश्रम में आया था। युवावस्था से ही उसे संगीत, चित्रकला और काव्य में रस था। बाद में वह श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र में संगीत का अध्यापक बन गया। उसने बारह वर्ष की उम्र में माताजी को पत्र लिखना शुरू किया था।)

मेरे प्यारे बालक,

अगर तुम आश्रम आने के लिए इतने उत्सुक हो तो आ सकते हो। लेकिन मैं तुम्हें दो बातों के बारे में चेतावनी दे दूँ :

१. यहाँ तुम्हारे प्राण को कोई परितृप्ति नहीं मिलेगी क्योंकि आजकल यहाँ का जीवन वर्तमान युद्ध की परिस्थितियों के कारण बहुत प्रतिबन्धों से भरा है।

२. तुम्हें यहाँ, हम सब की तरह, दिन-रात अचानक बमबारी की सतत आशंका में रहना होगा।

अगर तुम इन दो खतरों की परवाह नहीं करते तो आ सकते हो।

मेरा प्यार और आशीर्वाद।

१० अप्रैल १९४२

(१९४६ में यह साधक आश्रम लौट आया और फिर अन्त तक यहीं बना रहा। ये पत्र उसके बाद के हैं।)

हे मेरी मधुर माँ,

मुझे सच्चा रास्ता दिखलाने के लिए मेरी कृतज्ञता स्वीकार करो। मुझे बाहर से आने वाली हर चीज़ को अस्वीकार करने का बल प्रदान करो। तुम्हारी इच्छा पूरी हो।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद मार्ग पर तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करने के लिए तुम्हारे साथ हैं।

४ जून १९४६

हे मेरी मधुर माँ,

मैं अपने हृदय और अपनी सारी सत्ता में तुम्हारे अधिक निकट होना चाहता हूँ। मुझे शक्ति दो कि मैं अपने-आपको पूरी तरह तुम्हारे अर्पण कर सकूँ। हमेशा मेरे साथ रहो।

हाँ मेरे प्यारे नन्हें बालक, मैं तुम्हारी सहायता करने के लिए, तुम्हें सहारा देने और रास्ता दिखाने के लिए हमेशा तुम्हारे साथ हूँ। चेतना, ईमानदारी और अध्यवसाय के साथ अपना काम करने से तुम मेरी उपस्थिति को अपने अधिकाधिक निकट पाओगे।

मेरे आशीर्वादों के साथ।

२९ जून १९४६

मेरी मधुर माँ,

मैं जितना ही अपने अन्दर देखता हूँ उतना ही अधिक निरुत्साहित होता हूँ। पता नहीं मेरे लिए प्रगति करने का कोई अवसर है भी या नहीं। ऐसा लगता है कि सभी अन्धकार और मिथ्यात्व हर दिशा में, अन्दर-बाहर उठ रहे हैं और मुझे निगल जाना चाहते हैं। ऐसे अवसर आते हैं जब मैं सत्य और मिथ्यात्व में फ़र्क करने में असमर्थ होता हूँ, तब मुझे लगता है कि मैं अपना दिमाग़ खो बैटूँगा।

फिर भी मेरे अन्दर कोई चीज़ है जो धीरे से कहती है कि सब कुछ ठीक हो जायेगा; लेकिन यह आवाज़ इतनी धीमी होती है कि मैं उस पर भरोसा नहीं कर सकता।^१

मेरे दोष इतने बड़े और इतने अधिक हैं कि मुझे लगता है कि मैं असफल होऊँगा। दूसरी ओर, मेरे अन्दर न तो साधारण जीवन के लिए प्रवृत्ति है न क्षमता

^१ माताजी ने 'सब कुछ ठीक हो जायेगा' के नीचे लकीर लगा दी और लिख दिया: "यह सत्य की वाणी है, तुम्हें इसी को सुनना चाहिये।"

और मैं जानता हूँ कि मैं इस जीवन को कभी न छोड़ पाऊँगा। इस समय मेरी यही हालत है। संघर्ष अधिकाधिक तीव्र होता जा रहा है और सबसे बुरी बात तो यह है कि मैं तुम्हारे आगे झूठ नहीं बोल सकता। अब मैं क्या करूँ?

मेरे बालक, अपने-आपको यातना न दो, जितना हो सके उतने शान्त-स्थिर रहो। संघर्ष को छोड़ देने और अपने-आपको अँधेरे में जा गिरने देने के प्रलोभन के आगे न झुको। डटे रहो और एक दिन तुम अनुभव करोगे कि मैं तुम्हें दिलासा देने के लिए और तुम्हारी सहायता करने के लिए तुम्हारे पास हूँ और तब सबसे कठिन काम समाप्त हो जायेगा।

मेरे समस्त प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२५ सितम्बर १९४७

सच्चे रहो, हमेशा सच्चे, अधिकाधिक सच्चे।

सच्चाई हर एक से यह माँग करती है कि वह केवल अपनी सत्ता के सत्य को अभिव्यक्त करे।

२६ जनवरी १९५०

मधुर माँ,

मुझे लगता है कि कुछ गड़बड़ है और आप मुझसे बहुत नाराज़ हैं।

पहला प्रस्ताव ही ग़लत है। मैं तुमसे नाराज़ नहीं हूँ—अतः, इसके बाद जो कुछ आता है वह ठीक नहीं हो सकता।

मुझे आपके असन्तोष का सच्चा कारण जान कर बहुत खुशी होगी और मैं उसे हटाने का भरसक प्रयास करूँगा। मैं बता नहीं सकता कि यह जान कर मुझे कितना कष्ट होता है कि आप किसी कारण मुझसे नाराज़ हैं।

कोई सच्चा कारण नहीं है क्योंकि कोई असन्तोष नहीं है। तुम्हारा कष्ट बिलकुल निर्मूल है, अतः ज़्यादा अच्छा यह है कि तुम उसे तुरन्त निकाल बाहर करो।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

१२ दिसम्बर १९५३

मधुर माँ,

मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे पत्र से नाराज़ न हों। मैं आपकी नाराज़गी के

सिवा सब कुछ सह सकता हूँ। मुझे लगता है कि आप किसी-न-किसी कारण मुझसे बहुत नाराज़ हैं जिसे मैं अभी तक समझ नहीं पाया। आप मुझसे क्या करवाना चाहती हैं? आपकी इच्छा क्या है? मैं कह नहीं सकता कि मैं आपकी नाराज़गी को कितनी गहराई से अनुभव करता हूँ। क्या आप मुझसे ज़्यादा काम, ज़्यादा अनुशासन, ज़्यादा उचित मनोवृत्ति चाहती हैं? मैं असफलताओं का गट्टर हूँ। कृपया उनके लिए क्षमा कीजिये, मैं आखिर मानव हूँ। कृपया जो कुछ मैंने किया हो उसके लिए क्षमा कीजिये और मुझे बतलाइये कि मैंने क्या भूलें की हैं।

मैं अप्रसन्न नहीं हूँ, मैं नाराज़ नहीं हूँ। तुम्हारा यह विचार एकदम मिथ्या और काल्पनिक है। हो सकता है कि यह किसी असद्विवेक का परिणाम हो। लेकिन तुम्हें हमेशा के लिए यह समझ लेना चाहिये कि लोग चाहे जो भूलें किया करें वे मुझे परेशान या नाराज़ नहीं कर सकतीं। अगर कहीं दुर्भावना या विद्रोह हो तो काली आकर दण्ड दे सकती है, लेकिन वह हमेशा प्रेम के साथ दण्ड देती है।

अतः, इस सारी मूर्खता को फेंक दो और शान्त और खुश रहने की कोशिश करो।
मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२३ मार्च १९५४

मेरे प्यारे बालक,

“जो शाश्वत को चुनता है उसे शाश्वत ने चुन लिया है।”

श्रीअरविन्द के इस वचन को कभी न भूलो और सभी कठिनाइयों के बावजूद साहस बनाये रखो। तुम निश्चय ही लक्ष्य तक जा पहुँचोगे, और तुम जितना ही अधिक विश्वास रखोगे उतनी जल्दी पहुँच पाओगे।

मेरे प्यार और आशीर्वाद के साथ।

२६ जनवरी १९५६

(निम्नलिखित पत्र बिना तारीख के हैं। इनमें से अधिकतर १९३२ से १९३८ के काल के लिखे हुए हैं, जब साधक पहली बार यहाँ रहा था।)

मेरे प्यारे बालक,

अपने-आपको यातना न दो और किसी चीज़ से न डरो। मेरी कृपा हमेशा तुम्हारे साथ रहेगी और तुम्हें कभी धोखा न देगी। और फिर यह मानने का कोई कारण नहीं है कि तुम इस जीवन में सफल न होओगे। इसके विपरीत, मैं तुम्हारे अन्दर आह्वान के चिह्न देखती हूँ और चूँकि तुमने धीरज धरने का निश्चय कर लिया है इसलिए कठिनाइयाँ अवश्य पराजित होंगी।
तुम्हारी माँ की ओर से प्रेम।

तुम्हारे चले जाने से ज़रा भी लाभ न होगा। बाहरी साधन व्यर्थ होते हैं। यह तो 'भीतर' को बदलना होगा। अपने निश्चय को बनाये रखो और मेरी सहायता काम करेगी।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

मेरी नन्हीं माँ,

मैं कितना खुश होऊँगा जब सभी बादल और छायाएँ छितर जायेंगी। मैं एक नया जीवन चाहता हूँ।

मेरे प्यारे बालक,

एक नये जीवन के लिए तुम्हारी चाह बिल्कुल न्यायोचित है और तुम विश्वास कर सकते हो कि तुम्हें सहायता देने के लिए मैं अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करूँगी। मुझे विश्वास है कि अध्ययन में डटे रहना और काम के अनुशासन को स्वीकार करना और जीवन में व्यवस्था लाना अपने-आपको नया बनाने में तुम्हारे लिए बहुत बड़ी सहायता होगी।

मेरा समस्त प्रेम तुम्हारी सहायता करने और तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करने के लिए तुम्हारे साथ है।

मेरे प्यारे बालक,

जैसे मांसपेशियों को कसरत द्वारा प्रशिक्षित किया जा सकता है उसी तरह इच्छा-शक्ति और ऊर्जा को भी प्रशिक्षित किया जा सकता है। तुम्हें धीरज धरने के लिए अपनी इच्छा-शक्ति को और अवसाद को त्यागने के लिए अपनी ऊर्जा को लगाना चाहिये। मैं हमेशा अपने समस्त प्रेम के साथ तुम्हारी सहायता करने के लिए तुम्हारे पास हूँ।

*

तुम्हें चिन्ता न करनी चाहिये और जैसे कर रहे हो करते चलो, बस शायद तुम्हें अपनी सतही और बहुत अधिक हल्की-फुल्की बाहरी सत्ता को हस्तक्षेप करके तुम्हारे प्रयास को बिगाड़ने न देना चाहिये। उदाहरण के लिए, जैसा वह मार्चिंग के समय करती है।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ है स्थिर, शान्त सहिष्णुता जो तुम्हारी प्रगति में किसी गड़बड़ या अवसाद को हस्तक्षेप नहीं करने देती। विजय का आश्वासन है अभीप्सा की सच्चाई।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

मेरी माँ,

ऊर्जा का अभाव मुझे चित्रकारी से रोक रहा है। मुझे प्रबल ऊर्जा दो। मैं भीतरी और बाहरी नीरवता चाहता हूँ—अपनी समस्त सत्ता में—अन्तर्तम से एकदम बाहरी तक में शान्ति। शान्ति, मेरी सारी सत्ता में शान्ति। मैं इसे उचित शब्दों में व्यक्त

नहीं कर पा रहा और यह नाटकीय हो रहा है। मेरी भूल के लिए क्षमा कीजिये।

मैं तुम्हारी अभिव्यक्ति को नाटकीय नहीं पाती और क्षमा करने की कोई बात ही नहीं है। मैं जानती हूँ कि ऊर्जा के अभाव में तुम चित्रकारी नहीं कर पा रहे। लेकिन मैं तुम्हें जितनी ऊर्जा की ज़रूरत है उतनी दे सकती हूँ; तुम्हें बस अपने-आपको खोल कर उसे ग्रहण करना है और तुम देखोगे कि यह कभी न सूखने वाला स्रोत है। शान्ति तथा अन्य सभी सच्ची चीज़ों के लिए भी यही बात है जिनकी तुम अभीप्सा कर सकते हो।

तुम्हारी माँ की ओर से प्यार।

मेरी प्यारी माँ,

मेरी समझ में नहीं आता कि क्या करूँ। मैं आपकी ओर खुलना चाहता हूँ, लेकिन कोई चीज़ मुझे खुलने से रोकती है।

मेरे प्यारे बालक,

तुम्हें खुलना इसलिए कठिन लगता है क्योंकि तुमने अभी तक यह निश्चय नहीं किया है कि अपनी इच्छा को नहीं, मेरी इच्छा को जीवन पर शासन करने दोगे। जैसे ही तुम इसकी आवश्यकता समझ जाओगे, हर चीज़ ज़्यादा आसान हो जायेगी और अन्ततः तुम उस शान्ति को पाने-योग्य हो जाओगे जिसकी तुम्हें इतनी अधिक ज़रूरत है।

इस प्रयास और अभीप्सा में मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ।

माँ,

प्राण बहुत, बहुत बुरा हो गया है। आज तो यह विशेष रूप से विद्रोही हो उठा है। आपने मेरे पिछले पत्र का उत्तर नहीं दिया। क्या आप यह मानती हैं कि प्राण को शान्त करने की ज़रूरत नहीं है?

मैंने उत्तर इसलिए नहीं दिया क्योंकि ऐसा लगता है कि मैं जो कहती हूँ उसका कोई असर नहीं होता। अगर तुम स्पष्ट रूप से, **यथार्थ रूप से**, विद्रोह के स्वरूप का वर्णन करो तो इससे तुम्हें उससे पिण्ड छुड़ाने में बहुत अधिक सहायता मिलेगी, क्योंकि यह अपने-आपको खोलने का एक तरीका है जो प्रकाश को अन्धकार के अन्दर प्रवेश करने देता है और उसे आलोकित करता है।

माँ,

एक अवसाद है, और बहुधा मुझे लगता है कि मेरा मन बहुत थक गया है। पता

नहीं क्यों, आज मेरा प्राण भी भयंकर विद्रोह कर रहा है। मैं क्या कर सकता हूँ?

यह वही थकान है जो मांसपेशियों में तब आती है जब वे काफ़ी काम नहीं करतीं। निष्क्रियता ठीक उसी तरह थकाने वाली होती है जैसे अत्यधिक सक्रियता। एकदम काम न करना उतना ही बुरा है जितना अत्यधिक काम करना।

प्राण बहुत अधिक तंग करने वाला पात्र है जो उपेक्षित रहने की अपेक्षा दुष्ट होना ज़्यादा पसन्द करता है। तुम्हें उसे सिखाना चाहिये कि वह गृह-स्वामी नहीं है।

माँ,

मैं नहीं जानता कि प्राण के साथ क्या करूँ। क्या आप उसे रोकने की कृपा करेंगी?

श्रीअरविन्द—जब वह आये तो उसे स्वीकार न करो और जो कुछ वह कहे उस पर विश्वास न करो। उसके आदेशों के अनुसार क्रिया न करो। तब उसे रोकना कठिन न होगा।

माताजी—और जब श्रीअरविन्द तुमसे कुछ कहते हैं, तो करने-लायक पहली चीज़, और अगर तुम कठिनाई को जीतना चाहते हो तो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ है—उनकी **आज्ञा मानना**।

मेरे प्यारे बालक,

प्रबल अनुभूतियों के लिए लालसा प्राण की चीज़ है। यह प्रवृत्ति उन लोगों में बहुत अधिक होती है जिनका प्राण पर्याप्त रूप से विकसित नहीं होता और अपने भारीपन तथा जड़ता से पिण्ड छुड़ाने की आशा में उग्र संवेदनों की खोज करता है। लेकिन यह अज्ञान-भरी क्रिया है क्योंकि उग्र संवेदन कभी उपचार नहीं हो सकते। इसके विपरीत, वे अस्तव्यस्तता और अन्धकार को बढ़ा देते हैं।

एकमात्र उपचार है उच्चतर शक्तियों की ओर खुलना ताकि वे प्राण में व्यवस्था का, वर्गीकरण का, प्रकाश और शान्ति का काम कर सकें।

तुम्हारी माँ का प्रेम जो हमेशा तुम्हारी मदद करने के लिए तैयार रहती है।

मेरी प्यारी माँ,

आप मुझसे नाराज़ हो, हो न? मुझे बहुत दुःख होता है। मैं क्या कर सकता हूँ?
मैं पग-पग पर ठोकरें खाता हूँ।

नहीं, मेरे नन्हे बालक, मैं नाराज़ नहीं हूँ—मैं क्यों नाराज़ होऊँ? मैं तुम्हारी कठिनाइयों को समझती हूँ और तुम्हारी सद्भावना को जानती हूँ। मैं जानती हूँ कि तुम अच्छा करना चाहते

हो, कि तुम विजय पाना चाहते हो, कि तुम दुर्बलताओं पर विजय पाने के लिए अभीप्सा करते हो। जब कठिनाइयाँ आयें तो यह न सोचो कि मैं नाराज़ हूँ, बल्कि इसके विपरीत यह सोचो कि मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ, तुम्हें सहायता देती, तुम्हारी रक्षा करती, स्थायी प्रेम और माधुर्य के साथ तुम्हें प्रोत्साहित करती हूँ।

मेरे प्यारे बालक,

मैं तुम्हारी मदद करने और तुम्हारी रक्षा करने के लिए हमेशा तुम्हारे साथ हूँ।

अपने ऊपर व्यर्थ की कल्पनाओं का प्रभुत्व न होने दो। तुम्हारे हृदय की गहराइयों में शान्ति मौजूद है। वहाँ एकाग्र होओ और तुम उसे पा लोगे।

तुम्हारी माँ का प्यार।

मेरी प्यारी मधुर माँ,

मेरी सारी प्रकृति को रूपान्तरित कर दो। मैं वही होऊँगा जो तुम मुझे बनाना चाहो। मेरे हृदय में अपनी शान्ति और अपनी नीरवता प्रदान करो। मैं सभी बातें शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता, लेकिन माँ, तुम सब कुछ जानती हो।

हाँ, मैं तुम्हें भली-भाँति समझती हूँ मेरे प्यारे बच्चे, और मेरा स्नेह हमेशा तुम्हारे साथ रहता है और वह तुम्हारे लिए विस्तृत और स्थायी शान्ति, गहरी और आलोकमयी नीरवता, निश्चल और एकाग्र शक्ति तथा वह निर्विकार आनन्द चाहता है जो ज्योति के साथ सतत सम्पर्क से आता है।

मेरे समस्त प्रेम के साथ।

मेरी मधुर माँ,

मैं गहरी शान्ति, बहुत गहरी शान्ति चाहता हूँ। मुझे लगता है कि मैं हमेशा तुम्हारी भुजाओं में रहता हूँ।

हाँ, मेरी भुजाओं में रहना अच्छा है। वहाँ तुम्हें वह शान्ति मिलेगी जिसके लिए तुम्हारे अन्दर इतनी अभीप्सा है; और वह विश्राम मिलेगा जिसमें से सच्ची ऊर्जाएँ आती हैं।

मेरा प्रेम तुम्हें घेरे रहता और सदा आलिंगन में रखता है।

मेरी मधुर माँ,

प्रकाश, और अधिक प्रकाश। मुझे आलोकित करो। अब मैं जानता हूँ कि तुम सबसे बड़ी शक्ति हो। मेरी माँ, मुझे अपने हृदय में ले लो, सभी कठिनाइयों को विगलित कर दो।

मेरे प्यारे बालक,

हमेशा मेरे हृदय में दुबके रहो जो हमेशा तुम्हारा स्वागत करने के लिए तैयार है, हमेशा मेरी भुजाओं में लिपटे रहो जो सदा तुम्हें अपनाने के लिए तैयार हैं और किन्हीं बाधाओं से न डरो—हम उन सबको तितर-बितर कर देंगे।

मेरे समस्त प्रेम के साथ।

हे मेरी प्यारी माँ,

मुझे अपने हृदय में ले लो। नहीं, नहीं, मैं ये मनहूस मिथ्यात्व नहीं चाहता। मुझे अपने हृदय में ले लो।

मैं हमेशा तुम्हें अपने हृदय में लिये रहती हूँ लेकिन तुम ही वहाँ से भाग जाओ तो मैं क्या करूँ? अगर तुम चाहते हो कि मैं तुम्हारी सहायता कर सकूँ तो तुम्हें मेरी भुजाओं में चुपचाप स्थिर रहना चाहिये।

माँ, मुझे अधिक शान्त बनाओ।

हर बार जब तुम्हें बैचेनी का अनुभव हो तो तुम्हें बाहर आवाज़ दिये बिना, साथ ही मेरे बारे में सोचते हुए, अपने अन्दर बोलते हुए यह दोहराना चाहिये :

“शान्ति, शान्ति, हे मेरे हृदय!” तुम इसे लगातार कहो और परिणाम से तुम्हें खुशी होगी। मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

मेरे प्यारे बालक,

शान्ति तुम्हारे ऊपर है; उसे अपने अन्दर प्रवेश करने दो और शान्ति में तुम प्रकाश पाओगे और प्रकाश तुम्हारे लिए ज्ञान लायेगा।

मेरे समस्त प्रेम के साथ। तुम्हारी माँ।

मेरे प्यारे बालक,

उस दिन मैं कितनी खुश होऊँगी जब तुम सदा, सभी परिस्थितियों में बलवान् और प्रसन्न अनुभव करोगे।

मेरे समस्त प्रेम के साथ।

—‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड १६, पृ. १६१-१७३

पथ

अतिमानसिक योग एक ही साथ भगवान् की ओर आरोहण और सशरीर प्रकृति में देव का अवरोहण है।

आरोहण केवल एक-केन्द्रित, सबको इकट्ठा करके ऊर्ध्वमुखी अन्तरात्मा, मन, प्राण और शरीर की अभीप्सा द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अवरोहण अनन्त और शाश्वत भगवान् की ओर समस्त सत्ता की पुकार के कारण ही हो सकता है। अगर यह पुकार और यह अभीप्सा हों या अगर किसी तरीके से उन्हें पैदा किया जा सके और वे सतत बढ़ती रहें और सारी प्रकृति को पकड़ लें तब, केवल तभी अतिमानसिक उन्नयन और रूपान्तर सम्भव हो सकता है।

पुकार और अभीप्सा केवल पहली शर्तें हैं, उनके साथ उनकी प्रभावकारी तीव्रता द्वारा लाया भगवान् के प्रति समस्त सत्ता का उद्घाटन और पूर्ण समर्पण होना चाहिये।

यह उद्घाटन सभी स्तरों पर, सभी भागों में प्रकृति का, बिना किसी सीमा के अपने अन्दर महत्तर दिव्य चेतना को ग्रहण करने के लिए पूरी तरह खोल देना है। वह चेतना अब भी इस मर्त्य, अर्ध-चेतन सत्ता के ऊपर और पीछे उपस्थित है और इसे चारों ओर से घेरे हुए है। ग्रहण करने में धारण करने की कोई अक्षमता न होनी चाहिये, सारे तन्त्र में—मन, प्राण, स्नायु या शरीर में—कोई भी चीज़ उसके रूपान्तरकारी दबाव से टूटे नहीं। होनी चाहियें अन्तहीन ग्रहणशीलता, सदा अधिकाधिक शक्तिशाली और अधिकाधिक आग्रही, भागवत शक्ति की क्रिया को सह सकने वाली, सदा बढ़ती हुई क्षमता। अन्यथा कोई भी महान् और स्थायी चीज़ नहीं हो सकती; योग की प्रक्रिया का अन्त स्वास्थ्य-भंग या जड़ता-भरी रुकावट, बेतुके या अनर्थकारी रोध में होगा, उसमें प्रक्रिया के असफल न होने के लिए यह ज़रूरी है कि वह पूर्ण और सर्वांगीण हो।

लेकिन चूँकि किसी भी मानव तन्त्र में यह अन्तहीन ग्रहणशीलता और अक्षय क्षमता नहीं है, इसलिए अतिमानसिक योग केवल तभी सफल हो सकता है जब उतरती हुई भागवत शक्ति व्यक्तिगत सामर्थ्य को बढ़ाती चले और ग्रहण करने वाले बल को प्रकृति में काम करने के लिए उतरने वाली शक्ति के बराबर बनाती चले। यह तभी सम्भव है जब हमारी ओर से सत्ता का भगवान् के हाथों में उत्तरोत्तर समर्पण होता चले। पूरी-पूरी और अक्षय स्वीकृति, और कार्य के लिए जो कुछ ज़रूरी हो उसे हमारे अन्दर भागवत शक्ति को करने देने की साहसपूर्ण तत्परता होनी चाहिये।

मनुष्य अपने ही प्रयास से अपने-आपको मनुष्य से अधिक नहीं बना सकता। मानसिक सत्ता सहायता के बिना अपने-आपको अतिमानसिक आत्मा में नहीं बदल सकती। भागवत प्रकृति का अवतरण ही मानव पात्र को भागवत बना सकता है।

क्योंकि हमारे मन, प्राण और शरीर की शक्तियाँ अपनी सीमाओं के साथ बँधी हैं और वे चाहे जितनी ऊँची उठें, चाहे जितनी विस्तृत हो जायें, वे अपनी स्वाभाविक अन्तिम सीमाओं से

ऊपर या विस्तार में उन सीमाओं के परे नहीं फैल सकतीं। फिर भी, मानसिक मनुष्य उसकी ओर खुल सकता है जो उसके परे है और अतिमानसिक 'ज्योति', 'सत्य' और 'शक्ति' को अपने अन्दर काम करने के लिए और वह करने के लिए बुला सकता है जो मन नहीं कर सकता। अगर मन प्रयास से वह नहीं बन सकता जो मन के परे है, तो अतिमानस उतर कर मन को अपने द्रव्य में बदल सकता है।

अगर मनुष्य की विवेकशील स्वीकृति और जागरूक समर्पण अतिमानसिक शक्ति को अपनी निजी गभीर और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और लचीली सामर्थ्य के अनुसार काम करने दें तो वह धीरे-धीरे या तेज़ी से हमारी पतित और अपूर्ण प्रकृति में भागवत रूपान्तर ला सकती है।

यह अवतरण, यह क्रिया भी अनर्थकारी पतन और संकट की सम्भावना से खाली नहीं है। अगर मानव मन या प्राणिक कामना नीचे उतरती हुई शक्ति को पकड़ लें और उसे अपने सीमित और भूलभरे विचारों या त्रुटिपूर्ण और अहंकारी आवेगों के अनुसार काम में लाने की कोशिश करें—इस प्रकार की चीज़ें कुछ हद तक अनिवार्य होती हैं जब तक कि यह निम्नतर मर्त्य कुछ हद तक उस महत्तर अमर प्रकृति के तरीके न सीख ले—तब तक ठोकरों, विचलनों, कठिन और अलंघ्य दीखने वाली बाधाओं और घावों और दुःख-दर्द से बचा नहीं जा सकता और मृत्यु और नितान्त पतन भी असम्भव नहीं हैं। जब मन, प्राण और शरीर भगवान् के प्रति सचेतन सर्वांगीण समर्पण सीख लें, तभी योग-मार्ग सरल, सीधा, तेज़ और सुरक्षित हो सकता है।

और यह समर्पण और उद्घाटन केवल भगवान् के प्रति होना चाहिये और किसी के प्रति नहीं। क्योंकि अंधेरे मन या अशुद्ध प्राण-शक्ति के लिए अदिव्य और विरोधी शक्तियों के आगे समर्पण करना और उन्हें भूल से भगवान् मान लेना भी सम्भव है। इससे बढ़ कर और कोई अनर्थकारी भूल नहीं हो सकती। इसलिए हमारा समर्पण सभी प्रभावों या किसी प्रभाव के प्रति अन्धी, तामसिक निष्क्रियता न होकर, निष्कपट, सच्चा, सचेतन, जागरूक, एकमेव और उच्चतम के प्रति ही होना चाहिये।

दिव्य तथा अनन्त जननी के प्रति आत्म-समर्पण चाहे जितना कठिन हो, वही हमारा एकमात्र प्रभावकारी उपाय और एकमात्र स्थायी आश्रय है। उनके प्रति आत्म-समर्पण का अर्थ है कि हमारी प्रकृति उनके हाथों का यन्त्र हो, अन्तरात्मा माँ की बाँहों में एक बालक हो।

'मानव से अतिमानव', पृ. १५९-६१

—श्रीअरविन्द

१७ अगस्त १९५५ के वार्तालाप का एक अंश

चैत्य पुरुष की मुक्ति का क्या अर्थ है?

चूँकि तुम्हें ऐसा लगता है—साधना के आरम्भ में प्रायः व्यक्ति को यह अनुभव होता है—कि चैत्य पुरुष मानों एक प्रकार के कठोर छिलके में, जेल में बन्द है, और यही चीज़ उसे बाहर प्रकट होने से और बाह्य चेतना से, बाह्य सत्ता से सचेतन और सतत सम्बन्ध जोड़ने से रोकती है। तुम्हें बिलकुल ऐसा लगता है मानों वह एक बक्से में या दीवारोंवाली जेल में बन्द हो और तुम्हें प्रवेश पाने के लिए दीवारों को तोड़ना या दरवाज़े को ज़बरदस्ती खोलना पड़ेगा। तो स्वभावतः अगर तुम दीवारें तोड़ सको या दरवाज़ा खोल सको, तो अन्दर बन्द चैत्य पुरुष मुक्ति पा जाता है और अब बाह्य रूप में प्रकट हो सकता है। ये सभी रूपक हैं। लेकिन स्वभावतः, हर एक व्यक्ति का ज़रा हेर-फेर के साथ, अपना ही बिम्ब, अपना ही तरीक़ा होता है।

जिन लोगों ने अनुभूति पायी है उनके लिए ये कुछ बिम्ब बहुत व्यापक होते हैं। उदाहरण के लिए, जब तुम अपनी चेतना की ठीक तली में स्थित चैत्य पुरुष को पाने के लिए अपनी चेतना की गहराइयों में उतरते हो, तो गहरे कुँ में उतरने का, गहरे, और गहरे जाने का यह बिम्ब है, मानों तुम सचमुच किसी कुँ में डूब रहे हो।

स्वाभाविक रूप से ये सब अनुरूपताएँ हैं; लेकिन वे संयोजन या अनुभूति के ऐसे संस्कारों से जुड़े हैं जो अनुभूति को बहुत शक्ति और ठोस वास्तविकता देते हैं।

जैसे जब तुम अपनी आन्तरिक सत्ता की, सत्ता के सभी भिन्न भागों की खोज के लिए जाते हो तो बहुत बार तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम किसी बहुत बड़े हॉल या कमरे में प्रवेश कर रहे हो, और उसके रंग, उसके वातावरण और उसके अन्दर की चीज़ों से तुम्हें यह स्पष्ट बोध हो जाता है कि तुम सत्ता के किस भाग में सैर करने के लिए गये हो। और फिर, तुम एक कमरे से दूसरे कमरे में जा सकते हो, दरवाज़े खोल कर ज़्यादा-ज़्यादा गहरे कमरों में जाते हो जिनमें से हर एक का अपना-अपना गुण है। और बहुधा, ये आन्तरिक सैर रात को की जाती हैं। तब यह, स्वप्न की तरह, और भी ज़्यादा ठोस रूप ले लेती है, और तुम्हें लगता है कि तुम एक मकान में घुस रहे हो, और यह मकान तुम्हारे लिए बहुत परिचित है। और समय तथा अवधि के अनुसार, वह अन्दर से अलग-अलग तरह का होता है, और कभी-कभी वह बहुत ज़्यादा अव्यवस्था में, बहुत अस्त-व्यस्त हो सकता है, जहाँ सब कुछ घाल-मेल में होता है; कभी-कभी चीज़ें टूटी-फूटी भी होती हैं; वह बिलकुल अन्धव्यवस्था होती है। किसी और समय चीज़ें सुव्यवस्थित होती हैं, अपने स्थान पर रखी होती हैं; ऐसा लगता है कि तुमने घर-गिरस्ती सजायी थी, तुम सफ़ाई करते हो, चीज़ों को व्यवस्था में रखते हो और यह हमेशा वह-का-वही मकान होता है। यह मकान तुम्हारी आन्तरिक सत्ता का बिम्ब, एक प्रकार का

वस्तुनिष्ठ बिम्ब होता है। और तुम वहाँ जो देखते या करते हो उसके अनुसार, तुम्हारे लिए यह अपने मनोवैज्ञानिक कार्य का एक प्रतीकात्मक चित्रण होता है। यह मूर्त रूप देने के लिए बहुत उपयोगी होता है। यह लोगों पर निर्भर करता है।

कुछ लोग केवल बुद्धि-प्रधान होते हैं; उनके लिए हर चीज़ बिम्बों के द्वारा नहीं, विचारों द्वारा अभिव्यक्त होती है। लेकिन अगर उन्हें नीचे अधिक जड़-भौतिक क्षेत्र में जाना हो, तो, वे चीज़ों को उनकी ठोस वास्तविकता में छूने का खतरा नहीं उठाते, वे केवल विचारों के क्षेत्र में रहते हैं, मन में रहते हैं और अनिश्चित काल तक वहीं बने रहते हैं। तब व्यक्ति को लगता है कि वह प्रगति कर रहा है, और मानसिक रूप से कुछ करता भी है, यद्यपि यह बिलकुल अनिश्चित चीज़ होती है।

मन की प्रगति में हज़ारों वर्ष लग सकते हैं, क्योंकि यह बहुत विशाल और बहुत अनिश्चित क्षेत्र है जो हमेशा नया होता रहता है। लेकिन अगर कोई प्राणिक और भौतिक क्षेत्र में प्रगति करना चाहे तो बिम्बों का यह चित्रण क्रिया को निश्चित रूप देने के लिए, उसे अधिक ठोस बनाने के लिए बहुत उपयोगी होता है। स्वाभाविक है कि यह पूरी तरह इच्छा के अनुसार नहीं होता; यह हर एक की प्रकृति पर निर्भर करता है। लेकिन जिनमें बिम्बों को लेकर एकाग्र होने की शक्ति होती है, हाँ तो, उन्हें ज़्यादा सुविधा प्राप्त होती है।

एक बन्द दरवाज़े के आगे ध्यान में बैठना, मानों वह काँसे का बहुत भारी दरवाज़ा हो— और तुम उसके सामने इस संकल्प के साथ बैठते हो कि वह खुल जाये—और तुम उसके पार दूसरी ओर चले जाओ; तो सारी एकाग्रता, सारी अभीप्सा एक किरण के रूप में इकट्ठी हो जाती है और धक्का देती है, धक्का देती है और दरवाज़े को धक्का देती है, अधिकाधिक बढ़ती हुई ऊर्जा के साथ धक्का देती है, यहाँ तक कि अचानक कपाट खुल जाते हैं, और तुम अन्दर प्रवेश करते हो। इसका बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ता है और इसलिए ऐसा लगता है मानों तुमने प्रकाश में डुबकी लगायी हो और तब तुम्हें चेतना के सहसा तथा आमूल परिवर्तन का पूरा आनन्द मिलता है, एक ऐसा प्रकाश मिलता है जो तुम्हें पूरी तरह अभिभूत कर लेता है, और तुम्हें लगता है कि तुम एकदम से अलग ही व्यक्ति बन रहे हो। और यह अपनी चैत्य सत्ता के साथ सम्पर्क में आने के लिए बहुत ठोस और बहुत सशक्त मार्ग है।

मधुर माँ, यहाँ श्रीअरविन्द कहते हैं: “चैत्य सत्ता और उच्चतर चेतना का यह अन्तर्बन्धन सिद्धि का मुख्य मार्ग है।” क्या सामान्यतः चैत्य सत्ता और उच्चतर चेतना में अन्तर्बन्धन नहीं होता?

सामान्यतः का अर्थ साधारण जीवन से है? चैत्य सत्ता के साथ कोई सम्पर्क...

जी हाँ।

वह करीब-करीब, करीब-करीब, पूरी तरह से अचेतन होता है।

साधारण जीवन में लाखों में से एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं होता जिसका अपनी चैत्य चेतना के साथ सचेतन सम्पर्क हो, क्षण-भर के लिए भी। चैत्य सत्ता अन्दर से कार्य कर सकती है, लेकिन बाहरी सत्ता के लिए वह इतने अदृश्य और अचेतन रूप में कार्य करती है मानों उसका अस्तित्व ही न हो। और अधिकतर लोगों में, बहुत अधिक लोगों में, करीब-करीब सभी में, वह ऐसी होती है मानों वह सो रही हो, बिल्कुल भी सक्रिय नहीं होती, एक तरह की निष्क्रियता में रहती है।

केवल साधना और बहुत ही अटल प्रयास के द्वारा व्यक्ति अपनी चैत्य सत्ता के साथ एक सचेतन सम्पर्क बनाने में सफल होता है। स्वाभाविक है कि ऐसा सम्भव हो कि कुछ असाधारण मनुष्य हों—लेकिन यह चीज़ सचमुच असाधारण है, और ऐसे लोग इतने कम होते हैं कि उन्हें गिना जा सकता है—जहाँ चैत्य सत्ता पूर्ण विकसित हो, स्वतन्त्र और स्वराट् सत्ता हो, जिसने अपना कार्य करने के लिए किसी मानव शरीर के अन्दर पृथ्वी पर वापस आने का चयन किया हो। और ऐसी अवस्था में यदि व्यक्ति सचेतन रूप से साधना न भी करे, फिर भी यह सम्भव है कि चैत्य सत्ता इतनी अधिक शक्तिशाली हो कि वह न्यूनाधिक रूप से सचेतन सम्पर्क बना दे। लेकिन ऐसे व्यक्ति, कहना चाहिये, असाधारण और अपवाद-स्वरूप ही होते हैं जो इस नियम की परिपुष्टि करते हैं।

अपनी चैत्य सत्ता के प्रति सचेतन होने के लिए करीब-करीब, करीब-करीब सभी मनुष्यों के लिए, एक बहुत, बहुत ही सतत प्रयास की आवश्यकता होती है। साधारणतः ऐसा माना जाता है कि अगर मनुष्य उसे तीस साल में कर ले तो वह बहुत भाग्यशाली होता है—मैं कह रही हूँ, तीस साल की सतत साधना। यह भी हो सकता है कि वह इससे ज़्यादा जल्दी हो जाये। लेकिन यह इतना विरल होता है कि मनुष्य झट बोल उठता है: “यह कोई साधारण मानव नहीं है।” यह ऐसे लोगों की बात है जिन्हें न्यूनाधिक रूप से भागवत सत्ताएँ मान लिया गया है, और ये व्यक्ति बहुत बड़े योगी, बहुत बड़े सन्त थे।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ७, पृ. २९७-३०१

कर्मयोग

अपने अन्दर भगवान् के साथ, अपने चारों ओर के वैश्व और ऊपर परात्पर के साथ घनिष्ठ एकता और गहरे सायुज्य में काम करना, अपने काराग्रस्त तथा पृथक्कारी मानव मन में बन्द न रहना, उसके अज्ञानभरे आदेशों और संकीर्ण संकेतों का दास न रहना—यह है कर्मयोग।

दिव्य आज्ञा, शाश्वत इच्छा, परात्पर प्रेरणा से प्रवर्तित वैश्व प्रेरणा के अनुसार कर्म करना, अहंकार, आवश्यकता, आवेग और कामना के चाबुक तले न रहना, मानसिक, प्राणिक या भौतिक पसन्दों की चुभन से प्रेरित होकर नहीं बल्कि भगवान् से, केवल उच्चतम सत्य से सञ्चालित होना—यही कर्मयोग है।

मानव अज्ञान में न बने रह कर, उसमें क्रिया न करके, दिव्य ज्ञान में जो व्यक्तिगत प्रकृति और वैश्व शक्तियों के बारे में सचेतन और परात्पर शासन के अनुकूल हो उसमें जीना और कर्म करना—यही कर्मयोग है।

दिव्य, असीम, प्रकाशमान वैश्व चेतना में जीना, रहना और क्रिया करना, उसकी ओर खुलना जो वैश्व से बढ़-चढ़ कर है, पुरानी संकीर्णता और अन्धकार में टटोलते और ठोकरें खाते न रहना—यही कर्मयोग है।

जो भी उपस्थित तुच्छताओं से ऊब गया है, जो भी भावी महानताओं पर मुग्ध है, जिस किसी को अपने अन्दर, अपने ऊपर या अपने चारों ओर परम पुरुष की झलक मिलती है वह पुकार सुने, वह पथ का अनुसरण करे। मार्ग कठिन है, परिश्रम दुरूह और लम्बा है लेकिन उसका पुरस्कार है एक कल्पनातीत महिमा में, अथाह आनन्द में, सुखद और अन्तहीन विस्तार में आवास।

अपने अन्दर छिपे या अपार्थिव शरीर में निवास करने वाले पथ-प्रदर्शक को, ढूँढ़, उसकी आवाज़ पर कान दे और हमेशा वह जिस ओर इशारा करे उसी ओर चल। अन्त में वह प्रकाश है जो कभी निराश नहीं करता, वह सत्य है जो कभी धोखा नहीं देता, वह शक्ति है जो न तो भटकती है न ठोकरें खाती है, विस्तृत स्वाधीनता और अनिर्वचनीय आनन्द है।

उस पार के स्वर्ग महान् और अद्भुत हैं, लेकिन उनसे भी महान् और अद्भुत हैं वे स्वर्ग जो तुम्हारे अन्दर हैं। ये नन्दन कानन दिव्य कर्मी की प्रतीक्षा में हैं।

१९६९ के तीन वार्तालाप

२४ मई १९६९

यह कठिन है... यह कोई मज़ाक नहीं है...। हर चीज़, हर चीज़, अव्यवस्थित होती जा रही है, हर चीज़ अव्यवस्थित होती जा रही है। लेकिन हम भली-भाँति देख सकते हैं कि यह अव्यवस्था एक उच्चतर व्यवस्था **की ओर** गति कर रही है, यानी, एक विस्तार, एक मुक्ति—यह सच है...। लेकिन कुछ भी, कुछ भी सामान्य ढंग से नहीं हो रहा।

(मौन)

शरीर चेतना की एक ऐसी अवस्था में पहुँच गया है जिसमें वह जानता है कि मृत्यु एक परिवर्तन ला सकती है, लेकिन—यह तिरोभाव, (चेतना का तिरोभाव) नहीं है। तो जनसाधारण की बहुत बड़ी संख्या का यह विचार : मृत्यु का विश्राम... (*माताजी मुँह पर हाथ रख लेती हैं, मानों यह बहुत बड़ी बेवकूफ़ी हो*)। यह सान्त्वना भी नहीं। अधिकतर लोगों के लिए तो यह विश्राम का उलटा है। और वहाँ भी, एक अधिक उग्र, और तीव्र रूप में : “केवल एक, बस अकेली, **एक ही** आशा है... हे प्रभो, ‘तू’। बस, ‘तू’ हो जाना, केवल ‘तू’ ही हो, और कुछ नहीं, यह विभाजन, यह विभेद गायब हो जाये। यह भयानक है ! यह गायब हो जाये ताकि जैसा ‘तू’ चाहता है वैसा यह बने। पूरी सक्रियता में स्वयं ‘तू’ या फिर, ‘तू’ ही पूर्ण विश्राम में, उसका कोई महत्त्व नहीं है; इस ओर हो या उस ओर, इसका कोई महत्त्व नहीं है, बिलकुल कोई महत्त्व नहीं है। स्वयं ‘तू’ बन जाना, बस, यही महत्त्वपूर्ण है।”

यह पूर्ण **निश्चिति** है (*माताजी दोनों मुट्टियाँ बन्द कर लेती हैं*) कि बाहर निकलने का बस एक ही दरवाज़ा है, केवल एक—बस एक ही, कोई दूसरा नहीं; इसमें कोई चुनाव नहीं है, कई सम्भावनाएँ नहीं हैं, बस केवल एक : वह है... परम ‘द्वार’, ‘चमत्कारों’ का ‘चमत्कार’। बाक़ी सब... बाक़ी सब, वह सम्भव नहीं है।

और वह सब, इसका (*माताजी अपने शरीर की ओर इशारा करती हैं*) अनुभव है, यह मानसिक नहीं है। यह पूरा-पूरा, पूरा-पूरा भौतिक है।

मैं देख रही हूँ, क्योंकि लोगों की चेतना मेरे आगे खुली हुई है (कोई भेद नहीं है, वह बिलकुल खुली हुई है), अतः मैं देख रही हूँ : अधिकतर लोगों में, अधिकतर में, जब चीज़ें सचमुच बहुत कष्टदायक हो जाती हैं तो यह विचार आता है : “ओह !”—हमेशा ऐसा ही विचार आता है—“ओह, एक दिन यह सब समाप्त हो जायेगा।” क्या बेवकूफ़ी है !

(मौन)

लगता तो ऐसा ही है। हमेशा असाधारण चीज़ें होती रहती हैं। सारे समय, सारे समय,

हर मिनट, मैं ऐसी चीज़ों के बारे में सुनती हूँ जो सचमुच असाधारण हैं।

लेकिन इससे इस शरीर को कोई सान्त्वना नहीं मिलती...। उसमें उस तरह का आत्माभिमान नहीं है।

जी, लेकिन उससे कुछ काम तो बनता ही है।

आह! हाँ।

वह शुद्ध करता है—उसे सारे संसार को शुद्ध करना चाहिये।

उसे अपनी शुद्धि की भी कोई चिन्ता नहीं है...। पता नहीं कैसे समझाया जाये...। वह रात-दिन, बिना व्यवधान के : “जैसी तेरी इच्छा, हे प्रभो, जैसी तेरी इच्छा”...। हाँ, “जैसी तेरी इच्छा,” “जैसा तू चाहे” नहीं, क्योंकि यह केवल ऐसा नहीं है (अन्दर की ओर संकेत)। वह ऐसा भी है (बाहर की ओर, “फैला हुआ” का संकेत), “जैसी तेरी इच्छा, जो तू चाहे,” और बस। इसकी यह अवस्था निरन्तर रहती है।

(मौन)

बहरहाल (यह बहुत स्पष्ट है), जो ‘चेतना’ इसके परिश्रम में सहायता करने में लगी है, उसने अ--च्छी-- तरह समझा दिया है कि चले जाना कोई समाधान नहीं है। अगर उससे पहले यह जानने की उत्सुकता भी थी कि क्या होगा, तो वह उत्सुकता भी जा चुकी है; और फिर बने रहने की इच्छा, वह भी बहुत पहले जा चुकी है। जब वह ज़रा... ज़रा दम घोटने वाली स्थिति हो तो चले जाने की इच्छा की सम्भावना भी इस विचार के साथ चली गयी कि इससे कोई परिवर्तन न आयेगा। अतः, इसके लिए बस एक ही चीज़ बच रही है, वह अपनी स्वीकृति को और पूर्ण बनाये। बस, इतना ही।

२८ मई १९६९

बस, एक ही समाधान है : शरीर का ‘परम पुरुष’ के साथ सीधा सम्बन्ध। यही एकमात्र चीज़ है।

बस यही।

लेकिन शरीर के कोषाणु... (पता नहीं यह इस शरीर की ही विशेषता है, मैं यह नहीं मान सकती कि यह शरीर इतना अपवादिक है) परन्तु उन्हें पूरा-पक्का विश्वास है, और वे प्रयास करते हैं, वे प्रयास करते हैं, सारे समय, सारे समय, सारे समय प्रयास करते हैं, हर दैन्य के आने पर, हर कठिनाई में, हर... बस, एक ही समाधान है—एक ही चीज़ है : “तू, केवल तू, तेरे ही प्रति—केवल तेरा ही अस्तित्व है।” इसी का अनुवाद लोगों की चेतना में, बौद्ध लोगों तथा दूसरों की चेतना में इस तरह हुआ है कि जगत् भ्रान्ति है, परन्तु यह आधा अनुवाद है।

सच्चा समाधान तो यह है: “मात्र तेरा ही अस्तित्व है, बस, तू ही।” बाक़ी सब... बाक़ी सब दैन्य, दैन्य, दुःख... अन्धकार है।

शायद, शायद यह... स्पष्ट है कि श्रीअरविन्द की दृष्टि से ‘अतिमन’ इस सब दैन्य से अलग है।

बस, केवल ‘वही’ है। अन्यथा यह कठिन है।

शायद अब अधकचरे उपायों से काम न चलेगा...। पता नहीं, शायद अपने निश्चित आधार पर डटने का समय आ गया है।

जहाँ तक इस शरीर का प्रश्न है, यह डटा हुआ है। लेकिन मैंने अनुभव किया कि... इसके लिए व्यक्ति को बहुत, बहुत सहनशील होना चाहिये—बहुत ज़्यादा सहनशील। इसीलिए मैंने औरों को यह करने के लिए प्रेरणा नहीं दी। लेकिन यह सब कहने का मतलब यह होता है कि अब **समय आ गया** है। मुझे पता नहीं।

१० दिसम्बर १९६९

प्रगति बड़े लम्बे-लम्बे डग भर रही है—वह मकान को ज़रा हिला तो देती है, पर बढ़ रही है लम्बे-लम्बे डगों से। और ‘क’ जैसे कुछ लोगों के लिए यह बहुत सचेतन है। बहुत समय पहले उसके घुटने में कुछ चोट लग गयी थी और यह पैर दूसरे पैर से ज़्यादा कमज़ोर है—उसके खुल जाने की सम्भावना थी। उसने देखा कि जब वह उचित वृत्ति में रहती थी तो **कुछ न होता था**, ऐसा लगता था कि तकलीफ़ बिलकुल चली गयी। जैसे ही वह सामान्य चेतना में जा गिरती कि बीमारी वापस आ जाती थी...। उसे ऐसे अनगिनत अनुभव हुए। मुझे यह बात बहुत रोचक लगी। औरों को भी।

और यह सचमुच रोचक है। यह सचमुच रोचक है क्योंकि इसमें बिलकुल स्वच्छ और प्रत्यक्ष स्पष्टता है, क्योंकि यह **पूरी तरह से चेतना की एक अवस्था है**। जब तुम्हारे अन्दर चेतना हो, (यानी, चेतना अधिकाधिक वास्तविक होती जाये—कोई अवरुद्ध चीज़ नहीं, बल्कि आरोहण करती हुई चेतना), जब तुम उसके अन्दर हो तो हर चीज़ बिलकुल ठीक होती है, लेकिन जैसे ही तुम पुरानी प्रगतिशून्य या धीरे-धीरे लगभग अदृश्य प्रगति करने वाली चेतना में जा गिरते हो वैसे ही अव्यवस्था लौट आती है। और यह मानों बहुत ही स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में दिया गया पाठ है।

यह सचमुच रोचक है।

और शरीर सीखता चला जाता है। वह बहुत तेज़ी से सीखता है।

(मौन)

निश्चय ही, जब मनुष्य औरों में पूर्णता पाने के लिए प्रतीक्षा करना छोड़ कर स्वभावतः अपने-आपको पूर्ण करने की ओर मुड़ेगा तो यह एक बड़ा क़दम होगा...। यह उलटाव समस्त

सच्ची प्रगति का मूल आधार है। पहली मानव सहज वृत्ति होती है : “यह परिस्थितियों का दोष है, व्यक्तियों का दोष है, दोष... वह ऐसा है, यह वैसा है, दूसरा ऐसा...” और यह बात अनन्त काल तक चलती रहती है। **पहला क्रदम**, सबसे पहला क्रदम है यह कहना : “अगर मैं वैसा होऊँ जैसा मुझे होना चाहिये या यह शरीर ऐसा हो जैसा इसे होना चाहिये, तो इसके लिए सब कुछ ठीक हो जायेगा।” अगर प्रगति करने के लिए तुम दूसरों के प्रगति करने की प्रतीक्षा करोगे तो तुम्हें अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करनी होगी। यह पहली बात है जिसे सब जगह प्रचारित कर देना चाहिये। कभी दूसरों को या परिस्थितियों को दोष न दो, क्योंकि परिस्थितियाँ चाहे जैसी भी हों, चाहे बुरी-से-बुरी दीखने वाली परिस्थितियाँ हों, अगर तुम उचित मनोभाव रखो, अगर तुम्हारे अन्दर सच्ची चेतना हो तो तुम्हारी आन्तरिक प्रगति के लिए उनका कोई महत्त्व न होगा, कोई महत्त्व न होगा—मैं यह कहती हूँ और इसमें मृत्यु को भी गिन लेती हूँ। वास्तव में, यह सीखने के लिए पहला पाठ मालूम होता है।

(मौन)

श्रीअरविन्द ने लिखा है (मैं भावानुवाद करती हूँ) कि पाप की धारणा प्रगति को तेज़ करने के लिए लायी गयी थी और तुरन्त (*श्रीमाँ हँसती हैं*) मनुष्य ने और सबके अन्दर पाप देखा—लेकिन स्वयं अपने अन्दर कभी नहीं! श्रीअरविन्द का वाक्य बड़ा मनोहर है, लेकिन मुझे याद नहीं।^१

—‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड ११, पृ. १७९-८३, २२१-२२

^१ पाप-भावना का होना आवश्यक था ताकि मनुष्य अपनी निजी अपूर्णताओं से उकता जाये। यह अहंकार का संशोधन करने के लिए भगवान् का उपाय था। परन्तु मनुष्य का अहंकार स्वयं अपने पापों के प्रति तो बहुत ही धीमे रूप में और दूसरों के पापों के प्रति बहुत तीव्र रूप में जाग्रत् रह कर भगवान् के इस उपाय का सामना करता है। — ‘विचार और सूत्र’ (संख्या ६८)

श्रीअरविन्द के उत्तर

(७४)

मैं अनुभवी योगियों के दूसरों की कठिनाइयों को अपने ऊपर न लेने के मनोभाव को समझ सकता हूँ, लेकिन यह बात तो पुराने योग के लिए सच है जहाँ योगी को नीरव-निश्चलता में पैठना और क्रिया का बहिष्कार करना होता था। वहाँ भी, मेरे खयाल से ऐसा कोई विरल ही योगी होगा जिसने भले कितनी अपूर्णता के साथ ही सही, दूसरों की सहायता न की हो। अन्यथा, इसी डर से कि कहीं कठिनाइयों का सामना न करना पड़े, योगी को सभी सम्पर्कों और क्रियाओं से कतरा कर निकलना होता होगा।

ऐसे कई योगी हैं जो दूसरों की सहायता नहीं करते या इस आधार पर शिष्य भी नहीं बनाते।

दूसरी बात, अगर सभी पूर्णता पाने की ही प्रतीक्षा करते रहें (उनमें रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ और रामदास भी सम्मिलित हैं), तो एकदम कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि ईसामसीह ने भी पूर्णता की बाट नहीं जोही; यही बात बुद्ध, महावीर या शंकर के बारे में भी कही जा सकती है। वे सिद्धि प्राप्त करते गये, साथ-साथ दूसरों की सहायता में भी तत्पर रहे।

रामकृष्ण दूसरों को देने के पहले ही सिद्धि प्राप्त कर चुके थे—बुद्ध भी। औरों के बारे में मुझे पता नहीं। निस्सन्देह, पूर्णता का अर्थ ही है अपने पथ पर सिद्धि प्राप्त करना। रामकृष्ण का हमेशा यही नियम रहा कि किसी को तब तक गुरु नहीं बनना चाहिये जब तक कि वह अपने ऊपर पूरा प्रभुत्व न पा ले।

तीसरी बात, इस कारण कि इस योग का केन्द्रीय लक्ष्य भौतिक रूपान्तर है, इसलिए छोटी-से-छोटी भौतिक क्रिया को भी उपयोगी मानना चाहिये, बशर्ते कि वह गलत या अपूर्ण न हो। रही बात खतरों की, व्यक्ति को उनसे बिलकुल नहीं डरना चाहिये क्योंकि पथ पर कठिनाइयाँ और जोखिम तो रहते ही हैं। और भले व्यक्ति दूसरों की मदद न भी करे, कठिनाइयाँ तो किसी-न-किसी रूप में आयेंगी ही। तब फिर जहाँ कहीं सम्भव हो, पाने और देने की प्रक्रिया क्यों न अपनायी जाये?

जैसा कि मैंने कहा, यह अपने-अपने स्वभाव की बात है; किसी को ऐसा करना ठीक लगे,

किसी दूसरे को समान रूप से उसे न करना उचित लगे।

चौथी बात, वे लोग जो पथ पर ठीक-ठीक चल रहे हैं, जो दूसरों की मदद करना नहीं चाहते, अपने ही घोंघे में बन्द रहना पसन्द करते हैं, और दूसरे जो कम सच्चे हैं या यहाँ तक कि उलटे रास्ते चलते हैं तो वे निश्चित रूप से ग़लत तरीक़े से ही सक्रिय होंगे न? जैसे 'प', ऐसे लोग नये साधकों को यह सलाह देंगे, "लिखने का क्या फ़ायदा? इतने आज्ञाकारी बनने का क्या लाभ?" ऐसे लोग सफलतापूर्वक उनको प्रभावित कर देंगे, क्योंकि नीचे गिरना ज़्यादा आसान होता है। उस हालत में क्या यह उचित न होगा कि कोई अधिक समर्थ व्यक्ति दूसरों की सहायता करे और कार्य को ज़रा तेज़ी से आगे बढ़ा ले जाये?

ऐसे मामलों में सही व्यक्ति द्वारा सही समय पर हस्तक्षेप करना उपयोगी साबित हो सकता है।

पाँचवीं बात, क्या हम कह सकते हैं कि अगर 'द' ने 'ट' और 'स' की सहायता नहीं की होती, या 'ह' ने 'म' की और परोक्ष रूप से 'अ' और 'स' की मदद नहीं की होती, या अगर मैंने 'ज' की और 'ज' ने मेरी सहायता न की होती तो क्या हम इतनी अच्छी तरह से प्रगति कर पाते? और क्या आप और श्रीमाँ दूर से ही हम पर समान रूप से क्रिया कर पाते? आप हम पर इस तरह निकट से जैसे क्रिया कर रहे हैं वैसे कभी नहीं कर पाते और हम एक ही जगह पर फँसे रहते।

निस्सन्देह 'ड' और 'ह' ने इस कारण इस तरह क्रिया की क्योंकि हमने उनसे ऐसा करने को कहा था (मेरा मतलब है, प्रत्यक्ष क्रिया)—परोक्ष क्रिया परस्पर व्यवहार का सहज प्रभाव होती है, जिसकी हम यहाँ चर्चा नहीं कर रहे।

और अन्त में, हमें हमेशा उस व्यक्ति की कठिनाइयाँ अपने ऊपर लेने की ज़रूरत नहीं है जिसकी हम सहायता करते हैं। बहुधा एक शब्द या एक सुझाव लम्बी व्याख्याओं और परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया की अपेक्षा कहीं ज़्यादा असरदार होता है। निश्चल क्रिया की 'ल' की दलील ग़लत है। यह निर्वाण-योग के लिए सही है जिसमें, जैसा कि रमण महर्षि का कहना है, "ज्ञानी अपनी उपस्थिति के द्वारा क्रिया करता है"। लेकिन जहाँ भौतिक मन तथा भौतिक प्राण में कई गाँठों को काटना होता है वहाँ मेरे हिसाब से उचित समय पर प्रकाश की बौछार करनी आवश्यक हो जाती है जिससे व्यक्ति को, भले थोड़ा ही सही, लेकिन आगे बढ़ाया जा सके।

निश्चल क्रिया की 'ल' की दलील उसके और उसके जैसे लोगों के लिए एकदम सही है—जैसे कि तुम्हारी तुम्हारे और 'ड' तथा 'ह' के लिए सही है जिनके अन्दर व्यापक ऊर्जा है। तुम एक ही नियम सब पर लागू नहीं कर सकते।

आज मैंने २४ दिसम्बर १९३४ की आपकी वह चिट्ठी पढ़ी जिसमें आपने सेक्स के मन्द पड़ जाने की बात लिखी है: “अन्तिम अवस्था सामान्यतया या तो केवल कल्पना या ऐसी स्मृति होती है जिसमें कोई दबाव नहीं होता, या इसके विपरीत, वह बस यांत्रिक भौतिक पुनरावृत्ति होती है”। यह १४-१५ साल के किशोरों में सेक्स की पहली अवस्था भी जान पड़ती है जब उनमें सेक्स की कल्पनाएँ उभरने लगती हैं, लेकिन निश्चय ही फिर उनमें आगे जाने का दबाव रहता है। साधना में जब सेक्स मन्द पड़ने लगता है तब कल्पना भी मन्द पड़ जाती है, जब कि युवावस्था में वह उम्र के साथ-साथ बढ़ती है।

मुझे नहीं लगता कि जाते-जाते वह भावना हमेशा मन्द पड़ जाती है, कभी-कभी ठीक जाने के पहले उसमें तीव्रता का उफान आता है—लेकिन ऊपर के दबाव के कारण वह अपने-आपको दुर्बल बना लेती, थका देती और डूब जाती है। निश्चय ही यह स्वभाव पर निर्भर करता है। कभी-कभी वह बुझती हुई मोमबत्ती के जैसी होती है, कभी-कभी एकदम क्षीण हो जाती है और कभी-कभी लौ की अन्तिम आग के साथ समाप्त हो जाती है। हर एक पर समान नियम लागू नहीं होता।

१७ फ़रवरी १९३५

‘स’ ने मुझसे कहा कि मेरी पत्नी ने यहाँ आकर रहने की अनुमति माँग ली है। उसके यहाँ आने के विचार पर मैं खूब हँसा। मैंने बहुत सारी सम्भावनाओं के बारे में सोचा: क्या उसके आने से मैं बेचैन हो जाऊँगा, क्या मैं उससे बच कर रह पाऊँगा, क्योंकि अगर वह आ ही जाये तो मुझे उससे कतराना होगा, क्या सचमुच उसकी यहाँ आने की इच्छा है या फिर वह पतिरेव गुरु: की परम्परा निभा रही है? उसकी परीक्षा लेने के लिए मैं उसे लिखने वाला हूँ कि अगली जुलाई में मैं वहाँ आ रहा हूँ। अगर वह सचमुच इस खतरनाक योग को अपनाने की सोच रही है तो उसे यह कहना चाहिये कि मेरे वहाँ जाने के बावजूद वह यहाँ आयेंगी! आपके खयाल से कितने विवाहित पुरुष मेरी इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो पायेंगे—‘स’, ‘च’, ‘प’, ‘ट’, ‘न’, ‘ड’? जो स्त्रियाँ अपने पतियों के पीछे-पीछे पॉण्डिचेरी चली आयी हैं उनकी सूची में एक और नाम को जोड़ने की भला क्या आवश्यकता है? अगर उनके पतियों ने संन्यास ग्रहण कर लिया तो क्या वे भी संन्यासिनी बन जायेंगी?

वह योग करना नहीं चाहती। उसका कहना है कि पति की आराधना करना ही पत्नी की साधना है; वह प्रतिज्ञा कर रही है कि तुम्हारे साधना-पथ में रास्ते का काँटा नहीं बनेगी, वह बस तुम्हारी सेवा और तुम्हारी पूजा करेगी! वह आश्रम के सभी नियमों से बँध कर रहेगी—जो एकदम असम्भव है, क्योंकि न पतिगुरु न ही पतिदेवता जैसी चीज़ें यहाँ के नियमों से सामञ्जस्य रखती हैं।

मेरे खयाल से जिन-जिन लोगों का तुमने उल्लेख किया है उनमें से कोई भी उस नियम के अधीन होकर यहाँ नहीं टिक पाता।

सबरे जब मैंने देखा कि एक भी मज़दूर नहीं आया तो मैं परेशान हो गया। मेरी समझ में नहीं आया कि मैं क्या करूँ और कोई काम न होने पर मैं बड़ी बेचैनी महसूस करने लगा। प्रणाम के लिए भी नहीं जाना था—इस चीज़ ने मेरी परेशानी को दुगुना कर दिया। दिन बड़ा सूना और व्यर्थ लगने लगा, फिर आधे घण्टे के बाद एक मज़दूर आ गया जिसने आशा की एक किरण तो जगायी। काम करने की आदत पर इतना निर्भर रहना क्या अपने ऊपर सीमा बाँधना नहीं है? मज़दूरों के साथ का मैं प्रायः आदी हो गया हूँ!

मेरे खयाल से यह मज़दूरों के साथ की आसक्ति नहीं, बल्कि इसका कारण दैनिक और अभ्यासी काम करने की भौतिक चेतना की आदत है। स्वाभाविक है कि व्यक्ति को ऐसी अधीनता से मुक्त हो जाना चाहिये, लेकिन यह केवल तभी सम्भव होता है (पूरी तरह से) जब भौतिक में आत्म-प्रतिष्ठित शान्ति या शक्ति आ जाये। वरना भौतिक हमेशा अपनी आदतों पर ही निर्भर रहता है—सभी—भौतिक चीज़ों के बारे में यही सच है।

१८ फ़रवरी १९३५

पिछले चार-पाँच दिनों से मैं देख रहा हूँ कि फ्रेंच सीखने की मेरी रुचि लड़खड़ा रही है। जब मैं व्याकरण लेकर बैठता हूँ तो बेचैनी महसूस करने लगता हूँ और कोशिश छोड़ देता हूँ, मानों मैं किसी भी मानसिक काम को करने में असमर्थ होऊँ। जब 'ज' ईशोपनिषद् का किया अपना अनुवाद संशोधन या सुझाव के लिए मेरे पास लाता है तो मैं थकान महसूस करता हूँ, और तब तो और भी जब वह कोई ऐसी चीज़ ले आता है जिसमें सोचने या जवाब देने की ज़रूरत पड़े।

भौतिक मन का गुज़रता हुआ तमस्? या कोई दबाव?

डॉ. 'म' मुझे ज़िने पर मिल गये और उन्होंने मुझसे हाथ मिलाया। हमेशा की तरह

मैंने उनसे पूछा कि क्या वे अकेले ही आये हैं। उन्होंने कहा कि वे अकेले ही हैं और २५ तारीख को वापस जा रहे हैं, तब मैंने जवाब दिया कि सबसे महत्त्वपूर्ण और बढ़िया बात यह है कि आप बिना नागा हर एक अवसर पर यहाँ आ सकते हैं। उन्होंने कहा, “रेलगाड़ी मुझे आराम से यहाँ ले आती है।” हाँ, ले तो आती है, लेकिन उनके लिए हर बार यहाँ आने का निश्चय करना अपने-आपमें सराहनीय है—इसमें इच्छा-शक्ति और उद्देश्य की स्थिरता की आवश्यकता होती है जिसका यहाँ के कई स्थायी साधकों में अभाव है। और शायद वहाँ रह कर वे हममें से कइयों से ज़्यादा यहाँ के बारे में सोचते और अनुभव करते होंगे। मेरे जैसे की तो बात ही छोड़िये जिसके अन्दर हर महीने यहाँ से चले जाने का आवेग उठता है। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि अगर मैं ‘म’ की जगह होता तो इतनी बार बिलकुल नहीं आ पाता। ऐसा लगता है कि मेरे यहाँ इतने साल बिताने के बावजूद उन्होंने वहाँ रह कर मेरे जितना या मुझसे कहीं ज़्यादा काम किया है।

यह आकलन कुछ ज़्यादा ही बढ़-चढ़ कर किया गया है। डॉ. ‘म’ बहुत अच्छे साधक हैं और उन्होंने कई वर्षों तक साधना की है—लेकिन अगर वे यहाँ रहते तो निश्चित रूप से अधिक प्रगति कर लेते—हालाँकि हो सकता है कि उन्हें यहाँ अधिक कठिनाइयों का सामना करना होता—ऐसी बात नहीं है कि वहाँ रह कर उनकी अपनी कठिनाइयाँ नहीं हैं। लेकिन उनका मन एकदम स्पष्ट और मज़बूत तथा प्राण बलशाली और सुस्थिर है—दो महान् स्वभावगत फ़ायदे।
१९ फ़रवरी १९३५

आपने मौन रहने के बारे में जो लिखा है उससे मुझे ऐसा अनुभव होता है कि इसमें केवल हानियाँ हैं, निस्तार दिलाने वाला कोई भी गुण नहीं है। आज सवेरे जब मौन रहने का विचार मेरे अन्दर आया तो मैंने यह कल्पना की कि मैं कुछ प्राणिक क्रियाओं से अपने-आपको काट लूँगा और शायद अधिक शक्ति पाकर, तेज़ी से प्रगति कर लूँगा। लेकिन अगर ऐसा न हुआ तो मैं एक और रसातल में डूबना नहीं चाहूँगा। तब फिर मौन रहने में क्या कोई विशेष लाभ नहीं होता और क्या किसी स्तर पर इसकी आवश्यकता नहीं होती? मैं, जैसा कि अब हूँ, अगर वैसा बना रहना मेरे लिए ठीक है तो मैं इसी अवस्था में रहना चाहूँगा। लेकिन ज़्यादा अच्छा होगा कि आप ही इसका निश्चय करें।

इस चीज़ को हम दर्शन के बाद लेते हैं। दोनों ही बातों में कुछ सच्चाई है। मौन रहना लाभकारी होना चाहिये; प्रश्न बस पूर्ण बाहरी नीरवता तथा निवृत्ति का है।

हाल ही में 'ज' का सम्पर्क मुझे पर बहुत अधिक दबाव डाल रहा है। हालाँकि वह मुझसे दिन में केवल एक ही बार मिलता है, मैं उसके साथ आरामदायक अनुभव बिलकुल नहीं करता। ऐसा इसलिए हो सकता है कि वह मेरे ऊपर किसी न किसी तरह क्रिया करना चाहता है या यह कि हर चीज़ को बहुत ज़्यादा मानसिक रूप देने की उसकी आदत से मैं थक चुका हूँ—'द' का भी उसके साथ यही अनुभव रहा। वह हमारे ऊपर अपनी प्रचण्ड पसन्दें और नापसन्दें फेंकता ही रहता है और चाहता है कि वही हमारा एकमात्र साथी रहे। इसके फलस्वरूप मैं उससे कतराने लगा हूँ और शायद २१ तारीख के बाद मुझे उससे पूरी तरह बचना पड़ेगा, जैसा कि मैं कुछ और लोगों के साथ भी करने की कोशिश में लगा हूँ। क्या करूँ मैं? क्या वह इससे नाराज़ हो जायेगा?

मेरे खयाल से उसे बुरा लगेगा क्योंकि उसने तुम्हारे और 'द' के साथ अपने-आपको विशेष रूप से जोड़ लिया है—लेकिन 'द' निरन्तर हमें जो-जो लिखता है उससे ऐसा ज़रूर लगता है कि वह बहुत परेशान कर रहा है। मेरे विचार से यह और कुछ नहीं, अशान्त प्राण ही है और चूँकि मन उसके पीछे-पीछे चल रहा है इसलिए वह अपनी क्रियाओं में विवेक और सूझ-बूझ का ताल-मेल नहीं बिठा पा रहा।

'क' मेरे पास सवेरे छह बजे आती है और आजकल वह 'माता' पुस्तक पढ़ रही है जिसका मैं फ्रेंच में अनुवाद कर उसे समझाता हूँ। मैंने उसे फ्रेंच क्रियाएँ "avoir" (पाना) और "être" (बनना) भी सिखानी शुरू कर दी हैं, मैं हूगो का तरीका अपना रहा हूँ। लेकिन मेरे लिए यह जानना ज़रूरी है (बिना किसी छूट के!) कि क्या वह २१ तारीख के बाद भी आना जारी रखेगी? वही बात 'स' पर भी लागू होती है—हालाँकि मैं उसे तो केवल फ्रेंच लिखने के लिए थोड़ा-सा ही काम देता हूँ। कभी-कभी 'स' मुझसे मिलती है और कभी मैं उसके कमरे में जाता हूँ, और वह साधना के बारे में बातें करती है—क्या मुझे उससे भी कतराना चाहिये?

मुझे लगता है कि अगर तुम मौन अपना लो तो ये प्रश्न अपने-आप सुलझ जायेंगे। इसके अलावा, 'स' का संग सुरक्षित नहीं है, मैं उसके साथ घनिष्ठ होने के पक्ष में नहीं हूँ।

फ़िलहाल ज़्यादा काम नहीं है और मैं देख रहा हूँ कि 'ट' करीब-करीब खाली ही रहता है। मैंने एक योजना बनायी है: मैं एकदम से मौन रहना चाहता हूँ (आप कहेंगे, लो, एक और मौनी आ गया!) और अगले अगस्त तक या जब तक कोई ऐसा महत्वपूर्ण कार्य न आ जाये जहाँ निरीक्षक के रूप में मेरी ज़रूरत हो,

तब तक मैं औरों के साथ कोई सम्पर्क न रखूँगा। मैं राजमिस्त्रियों के साथ काम करूँगा और अपने-आप काम सीखूँगा—यह मौन रह कर किया जा सकता है। मैं 'च' के साथ काम करूँगा ताकि सभी ब्योरों को भी सीख लूँ। शायद मैं आधे दिन ही शारीरिक कार्य करूँ। मुझे 'ब' की फ्रेंच की कक्षा में जाना बन्द करना होगा, लेकिन मैं अपने खाली समय में व्याकरण के पाठों पर ध्यान दे सकता हूँ।

निस्सन्देह, हो सकता है कि इस तरह की निवृत्ति से मैं कुछ खतरे मोल ले लूँ, लेकिन मैं देखना चाहता हूँ कि वे खतरे हैं क्या? मुझे नहीं लगता कि अहंकार के सिवाय और कुछ मेरे अन्दर आयेगा; और अगर वह उठ भी आया तो मैं उसके साथ निबट लूँगा। अगर कोई ऐसा आवश्यक काम हो जहाँ मेरी ज़रूरत हो तो मैं 'ट' के सिवाय और किसी के भी साथ काम करने के लिए उस समय अपना मौन तोड़ दूँगा। अगर आप मेरे इस सुझाव के लिए अनुमति दे दें तो मैं २२ की सुबह से इसे शुरू करना चाहूँगा। लेकिन इससे काम में असुविधा नहीं होनी चाहिये, और उस हालत में 'ट' को थोड़ा-सा बचा हुआ काम अपने हाथों में लेना होगा। क्या यह अस्वाभाविक प्रतीत होगा?

मेरा खयाल है कि ऐसा किया जा सकता है। तुम 'ट' के स्थान पर किसको लेना चाहोगे इस बारे में 'च' से बात कर देखो।

हाँ, तुम्हारे मौन बने रहने के सुझाव को निस्सन्देह अस्वाभाविक माना जायेगा और कुछ समय के लिए बहुत कानाफूसी भी होगी। रही बात खतरों की, तो इस तरह की निवृत्तियों में (अहंकार के अलावा) सच्चा खतरा होता है आत्मनिष्ठ प्रभावों और कल्पनाओं का शिकार बन कर उस वास्तविकता की पकड़ से छिटक जाना जो दूसरों के साथ कार्य करने और सम्पर्क बनाये रखने से बनी रहती है। निस्सन्देह, सम्पर्क बनाये रखने पर भी व्यक्ति की पकड़ छूट सकती है, जैसा कि 'ह' या औरों के साथ हुआ। लेकिन मुझे लगता है कि तुम काफ़ी ठण्डे और आलोचनात्मक दिमागवाले हो, इसलिए इस खतरे से बच जाओगे।

२० फ़रवरी १९३५

अप्रत्याशित रूप से बहुत ही व्यस्त दिन गुज़रा क्योंकि ज़्यादातर मिस्त्री आ गये थे और हमें कई सारे ब्योरों को देखना पड़ा, सामान्य दिनों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा। 'च' को 'न्यू सेक्रेटेरिएट' में कंक्रीट का काम करवाना होगा और मुझे कम-से-कम अगले दो हफ़्तों तक सिद्धान्तों और व्यावहारिक रूप से इसके बारे में जाँच-पड़ताल और अध्ययन करना होगा। आजकल काफ़ी काम मेरे पास है, लेकिन जब काम नहीं होता तो मैं बड़ी बेचैनी का अनुभव करता हूँ। मुझे सन्देह है कि क्या मैं "नीरवता में, बिना काम के" एक दिन भी बिताने में समर्थ होऊँगा? और "काम

के साथ नीरवता” सुविधाजनक भी नहीं लगती!

लेकिन, अगर “बिना काम के” तुम बेचैन हो जाते हो तो काम बन्द ही क्यों करते हो? रही बात दूसरी कठिनाई की, तो यह नियम क्यों नहीं बना लेते कि “जब तक बोलने की आवश्यकता न हो, तुम चुप ही रहोगे”।

२१ फ़रवरी १९३५

‘अ’ से मैंने अपने चुप रहने के इरादे के बारे में कहा। उसने एकदम से उसके विरोध में अपना ऐलान सुना दिया। उसने मुझसे पूछा कि क्या मैंने आपको इसके बारे में लिखा या फिर क्या आप चाहते थे कि मैं ऐसा करूँ। यह गम्भीर प्रश्न था, क्योंकि मुझे पता नहीं कि आप कभी किसी को ऐसी कोई विशेष सलाह देंगे, हाँ, काम के बारे में हो तो दूसरी बात है, या फिर कोई आपका बहुत घनिष्ठ हो या बहुत आज्ञाकारी हो तब आप दे सकते हैं। उसका अगला प्रश्न था कि मैं यहाँ रह कर मौन धारण नहीं कर पाऊँगा। उसने कहा कि बाहर रह कर मौन धारण करना ज्यादा आसान होता है जहाँ प्रतिकूल शक्तियाँ चुप रहने में व्यक्ति की सहायता करती हैं, क्योंकि व्यक्ति अपने अन्दर गर्व, शक्ति इत्यादि को लिये रहता है। मेरी समझ में नहीं आता कि यहाँ भी तो उन्हीं समान कारणों से प्रतिकूल शक्तियाँ व्यक्ति की भला क्यों नहीं मदद करेंगी?

निस्सन्देह, बातचीत करने या मौन धारण करने, दोनों में ही प्रतिकूल शक्तियाँ किसी की भी, कहीं भी—अगर व्यक्ति चाहे—सहायता करने को तैयार रहती हैं। वे स्थान-विशेष की परवाह नहीं करतीं! रही बात मौन धारण करने की, तो यहाँ लोग उनकी सहायता के बिना, कम-से-कम कुछ समय के लिए तो अपने-आपको शान्त बनाये रखने में समर्थ हुए हैं।

इसके विपरीत, जब मैंने ‘ज’ से इसके बारे में कहा तो उसे धक्का लगा। फिर उसे यह विचार पसन्द आया और उसने मुझसे पूछा कि कम-से-कम मैं उससे तो बातचीत करूँगा न! वह उतावला हो रहा था कि ईशोपनिषद् का उसका अनुवाद मैं देख जाऊँ।

बहरहाल, ऐसा लगता है कि ‘क’ को यहाँ से जाना पड़ेगा। ‘द’ उसे लेने नहीं आया लेकिन उसने ‘क’ को वापस भेजने के लिए एक अत्यावश्यक सूचना भेजी है, अगर यहाँ से कोई उसे छोड़ने के लिए नहीं जा पाये तो उसे लेने के लिए वहाँ से किसी को आना पड़ेगा।

मैंने 'क' से कहा कि आपने उसके बारे में लिखा। वह बोली कि कल सारा दिन उसे ऐसा लगा कि कुछ बहुत ही गड़बड़ चीज़ चल रही है। उसे पिछले महीने ही सूचना मिल गयी थी, लेकिन उसने यह आशा नहीं की थी कि उसके पिताजी इतना आग्रह करेंगे। वह वापस जाने के लिए एकदम अनिच्छुक थी और उसने कहा कि वहाँ वह एक दिन भी नहीं रह पायेगी, महीनों या एक साल की बात तो बहुत दूर की होगी। मैंने उससे कहा कि इसे वह श्रीमाँ का काम समझकर अस्थायी प्रस्थान माने। और चूँकि उसका जाना अनिवार्य था इसलिए यह उसके लिए एक परीक्षा भी बन गयी।

उसे इसे परीक्षा के रूप में ही लेना चाहिये। अगर वह बालिग होती तो स्वतन्त्र चुनाव कर सकती थी, लेकिन अभी, जैसी कि उसकी उम्र है, अगर माता-पिता आग्रह करें तो उसे यहाँ रखना असम्भव होगा। हाँ, अगर उसके अन्दर आध्यात्मिक जीवन के लिए सच्ची आवश्यकता है तो बाद में वह सभी कठिनाइयों और उतार-चढ़ावों को पार कर यहाँ आकर रहेगी और ये कठिनाइयों उसके संकल्प की सच्चाई को और ज़्यादा गहरा बना देंगी। निस्सन्देह, अगर आध्यात्मिक जीवन के लिए उसका चुनाव केवल मन की इस इच्छा के कारण है कि यहाँ का परिवेश, सहयोगियों का साथ और वातावरण उसे बहुत भाता है तब तो यह बहुत समय तक नहीं टिकेगा—लेकिन उस हालत में उसे वहाँ के वातावरण के साथ समझौता करना होगा और सामान्य जीवन में अपना सन्तोष खोजना होगा।

मैंने 'ज' से पूछा कि वह अपना अनुवाद सुनाने और संशोधन करवाने 'ड' के पास क्यों नहीं जाता क्योंकि वह गुजराती का अच्छा लेखक है। उसने कहा कि 'ड' के लिए उसके अन्दर स्वाभाविक जुगुप्सा का भाव है। इसके अलावा, अगर वह उसके पास चला भी जाये, लेकिन फिर कुछ दिनों के बाद 'ड' यहाँ से चले जाने की बात सोचने लगेगा, क्योंकि 'प' उसके चारों ओर इस तरह का जाल बिछाने लगा है। लेकिन बड़ी अजीब बात है कि 'ड' केवल इस कारण यहाँ से चले जाने की बात सोचे क्योंकि पहले 'ज' का संग 'प' के साथ था! इसका तो यही मतलब हुआ कि या तो—जैसा कि 'ज' मानता है—'प' के अन्दर भयंकर गुह्य शक्ति है, या फिर सब कुछ बढ़ा-चढ़ा कर देखने के अपने स्वभाव के कारण 'ज' इन सब बातों की कल्पना कर रहा है।

'ज' बहुत सक्रिय मनवाला व्यक्ति है और शायद वह चीज़ों को ब्योरे में और स्पष्ट रूप में देखता है। मेरे ख़याल से 'प' 'ड' के स्वभाव को भली-भाँति जानता होगा—रही बात जाल की, तो उसके बारे में मुझे पता नहीं। क्या 'प' सन्त पीटर जैसे लोगों के जितना बड़ा मछुआरा है?

‘स’ ने मुझे यह सूचना दी कि उसे यहाँ से जाना होगा, और यह भी कि शायद ‘व’ भी उसी के साथ चली जाये। उसके जाने की खबर ने मेरे चारों ओर भी यहाँ से चले जाने का वातावरण पैदा कर दिया। मुझे सन्देह है कि क्या मैं यहाँ हूँ या यहाँ से चला ही गया हूँ, या जैसा कि ‘ज’ कहेगा, “प्राण तो पहले से ही वहाँ चला गया”!

हाँ, “यहाँ से चले जाने का वातावरण” बहुतां के अन्दर प्रबल है, लेकिन मेरे खयाल से यह चीज़ हमेशा ही, फ़रवरी-दर्शन के ठीक पहले या ठीक बाद, अपना सिर उठाती रहती है। पहले यह शरदकाल में—सितम्बर के आस-पास, लहर-जैसी टूट पड़ती थी—अगस्त-दर्शन के बाद। मेरे खयाल से यह क्रिया तथा प्रतिक्रिया के नियमों में से एक है और जगत्-व्यापार के पीछे व्यक्ति इसका तब आविष्कार करता है जब वह सतह के पीछे देखने में समर्थ हो।

२२ फ़रवरी १९३५

—श्रीअरविन्द